॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथाष्टमोऽध्यायः
(आठवाँ अध्याय)

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ १॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ २॥

अर्जुन बोले—

पुरुषोत्तम = हे पुरुषोत्तम!
तत् = वह
ब्रह्म = ब्रह्म
किम् = क्या है?
अध्यात्मम् = अध्यात्म
किम् = क्या है?
कर्म = कर्म
किम् = क्या है?
अधिभूतम् = अधिभूत
किम् = किसको
प्रोक्तम् = कहा गया है?
च = और
अधिदैवम् = अधिदैव
किम् = किसको
उच्यते = कहा जाता है?
अत्र = यहाँ
अधियज्ञः = अधियज्ञ
कः = कौन है?
च = और (वह)
अस्मिन् = इस
देहे = देहमें
कथम् = कैसे है?
मधुसूदन = हे मधुसूदन!
नियतात्मभिः = वशीभूत अन्तः-करणवाले मनुष्यके द्वारा
प्रयाणकाले = अन्तकालमें (आप)
कथम् = कैसे
ज्ञेयः = जाननेमें आते
असि = हैं?

~~✿✿~~

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः॥ ३॥

श्रीभगवान् बोले—

परमम् = परम
अक्षरम् = अक्षर
ब्रह्म = ब्रह्म है (और)
स्वभावः = परा प्रकृति-(जीव-) को
अध्यात्मम् = अध्यात्म
उच्यते = कहते हैं।
भूतभावोद्भव-करः = प्राणियोंकी सत्ता-को प्रकट करनेवाला
विसर्गः = त्याग
कर्मसञ्ज्ञितः = कर्म कहा जाता है।

विशेष भाव—'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते'—'परा प्रकृति' भगवान्‌का स्वभाव है—**'प्रकृतिं विद्धि मे पराम्'** (गीता ७। ५)। प्रकृति कहो, चाहे स्वभाव कहो, एक ही बात है। यह परा प्रकृति अर्थात्

जीव ही 'अध्यात्म' नामसे कहा गया है। इसको भगवान्‌ने अपना अंश भी बताया है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७)।

'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते' का दूसरा तात्पर्य है कि बालक, जवानी और वृद्धावस्थामें; जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें; चौरासी लाख योनियोंमें, सर्ग और प्रलयमें, महासर्ग और महाप्रलयमें भी जीवका कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६) अर्थात् इसका अपना भाव (सत्ता या होनापन) सदा विद्यमान रहता है।

सृष्टि-रचनारूप कर्मको 'त्याग' कहनेका तात्पर्य है कि इसमें अपनी स्थिरताका त्याग है। कारण कि तत्त्व स्थिर, अचल है और उस स्थिरताका त्याग ही कर्म है।

भगवान्‌का सृष्टि-रचनारूप कर्म ही आदि कर्म है*, जिससे कर्मोंकी परम्परा चली है। अतः 'कर्म' के अन्तर्गत तीन प्रकारके कर्म आते हैं— (१) सृष्टिकी रचना (२) क्रियामात्र, जो फलजनक नहीं होती और (३) पाप-पुण्य (शुभाशुभ कर्म), जो फलजनक होते हैं।

भगवान्‌का सृष्टि-रचनारूप कर्म वास्तवमें 'अकर्म' ही है। भगवान्‌ने कहा भी है—**'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्'** (गीता ४। १३) 'उस सृष्टि-रचनाका कर्ता होनेपर भी मुझ अव्यय परमेश्वरको तू अकर्ता जान।'

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ ४॥

देहभृताम्, वर	=हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**अधिभूतम्**	=अधिभूत हैं,	**अत्र**	=इस
क्षरः	=क्षर	**पुरुषः**	=पुरुष अर्थात् हिरण्यगर्भ ब्रह्मा	**देहे**	=देहमें (अन्तर्यामीरूपसे)
भावः	=भाव अर्थात् नाशवान् पदार्थ	**अधिदैवतम्**	= अधिदैव हैं	**अहम्**	= मैं
		च	= और	**एव**	= ही
				अधियज्ञः	= अधियज्ञ हूँ।

विशेष भाव—परिवर्तनशील एवं नाशवान् क्रिया और पदार्थमात्र 'क्षरभाव' है, जो भगवान्‌की अपरा प्रकृति है।

ज्ञानमें ब्रह्मके साथ एकता होती है और प्रेममें अन्तर्यामी भगवान्‌के साथ अभिन्नता होती है। भगवान्‌ने यहाँ अन्तर्यामी- (अधियज्ञ-) को अपना स्वरूप बताया है। अतः ब्रह्म तो विशेषण है और अन्तर्यामी विशेष्य है—**'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** (गीता १४। २७)। तात्पर्य है कि जिसको गीताने 'समग्र' कहा है, वह सबका रचयिता और नियन्ता अन्तर्यामी मैं ही हूँ। इसी अन्तर्यामीको चौदहवें अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोंमें **'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्'** और **'अहं बीजप्रदः पिता'** पदोंमें **'अहम्'** शब्दसे कहा गया है। गीतामें ब्रह्मके लिये कहा है—**'न सत्तन्नासदुच्यते'** (१३। १२) और समग्र भगवान्‌के लिये कहा है—**'सदसच्चाहम्'** (९। १९), **'सदसत्तत्परं यत्'** (११। ३७)।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ५॥

* **'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'** (गीता ४। १३), **'कल्पादौ विसृजाम्यहम्'** (९। ७), **'विसृजामि पुनः पुनः'** (९। ८), **'अहं बीजप्रदः पिता'** (१४। ४)।

यः	=जो मनुष्य	**मुक्त्वा**	=छोड़कर	**याति**	=प्राप्त होता है,
अन्तकाले	=अन्तकालमें	**प्रयाति**	=जाता है,	**अत्र**	= इसमें
च	=भी	**सः**	=वह	**संशयः**	=सन्देह
माम्	=मेरा	**मद्भावम्**	=मेरे स्वरूपको	**न**	=नहीं
स्मरन्	=स्मरण करते हुए	**एव**	=ही	**अस्ति**	=है।
कलेवरम्	=शरीर				

विशेष भाव—जो मनुष्य शरीरके रहते-रहते अपना उद्धार नहीं कर सका, वह यदि अन्तकालमें भी भगवान्‌का स्मरण करते हुए शरीर छोड़े तो वह भगवान्‌को ही प्राप्त होता है—इसमें कोई सन्देह नहीं है। फिर जो सब समय भगवान्‌का स्मरण करता है, वह अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण करके भगवान्‌को प्राप्त हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है! भगवान्‌ने मनुष्यको (अपना उद्धार करनेकी) बहुत स्वतन्त्रता दी है, छूट दी है कि किसी तरहसे उसका कल्याण हो जाय। यह भगवान्‌की मनुष्यपर बहुत विशेष कृपा है!

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ६॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीपुत्र अर्जुन!	**कलेवरम्**	=शरीर	**तम्, तम्**	=उस-उसको
अन्ते	=(मनुष्य) अन्तकालमें	**त्यजति**	=छोड़ता है	**एव**	=ही
यम्, यम्	=जिस-जिस	**सदा, तद्भावभावितः**	=वह उस (अन्तकालके) भावसे सदा भावित होता हुआ	**एति**	=प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस योनिमें ही चला जाता है।
वा, अपि	=भी				
भावम्	=भावका				
स्मरन्	=स्मरण करते हुए				

विशेष भाव—सातवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने '**यो यो यां यां तनुं भक्तः**' पदोंसे उपासनाके विषयमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता बतायी थी, अब इस श्लोकमें गतिके विषयमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता बताते हैं। तात्पर्य है कि अपनी उपासना और गतिके विषयमें मनुष्य स्वतन्त्र है* और उसमें भगवान् अपने दयालु स्वभावके कारण बाधक नहीं बनते, प्रत्युत उसकी सहायता करते हैं। मनुष्य ही मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके दुर्गतिमें चला जाता है।

यह मनुष्यशरीरकी महत्ता है कि वह जो चाहे, वही पा सकता है। ऐसा कोई दुर्लभ पद नहीं है, जो मनुष्यको न मिल सके। जिसमें लाभ- (सुख-) का तो कोई अन्त न हो और दुःखका लेश भी न हो, ऐसा पद मनुष्य प्राप्त कर सकता है†। परन्तु भोग और संग्रहमें लगकर मनुष्य चौरासी लाख योनियोंमें और नरकोंमें चला जाता

---

* **नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही॥**
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥
(मानस, उत्तर० १२१। ५)

† **यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।**
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(गीता ६। २२)

है! इसलिये भगवान् दु:खके साथ कहते हैं—'**अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि**' (९। ३), '**मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्**' (१६। २०)।

मनुष्य अन्तकालमें जैसा चिन्तन करता है, वैसी ही उसकी गति होती है। इस विषयमें एक श्लोक आता है—

वासना यस्य यत्र स्यात् स तं स्वप्नेषु पश्यति।
स्वप्नवन्मरणे ज्ञेयं वासना तु वपुर्नृणाम्॥

'जिस मनुष्यकी जहाँ वासना होती है, उसी वासनाके अनुरूप वह स्वप्न देखता है। स्वप्नके समान ही मरण होता है अर्थात् वासनाके अनुरूप ही अन्तसमयमें चिन्तन होता है और उस चिन्तनके अनुसार ही मनुष्यकी गति होती है।'

तात्पर्य है कि मृत्युकालमें हम जैसा चाहें, वैसा चिन्तन नहीं कर सकते, प्रत्युत हमारे भीतर जैसी वासना होगी, वैसा ही चिन्तन स्वत: होगा और उसके अनुसार ही गति होगी। जिस वस्तुको हम सत्ता और महत्ता देते हैं, उससे सम्बन्ध जोड़ते हैं, उससे सुख लेते हैं, उसीकी वासना बनती है। अगर संसारमें सुखबुद्धि न हो तो संसारकी वासना नहीं बनेगी। वासना न बननेपर मृत्युकालमें जो भी चिन्तन होगा, भगवान्का ही चिन्तन होगा; क्योंकि सिद्धान्तसे सब कुछ भगवान् ही हैं— '**वासुदेवः सर्वम्**'।

'**तं तमेवैति**'—जिस तरह सुईके पीछे-पीछे (उसी मार्गसे) धागा जाता है, उसी तरह मनुष्य भी अन्तकालके भावके अनुसार उसी गतिमें जाता है।

~~~

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७॥

तस्मात्	= इसलिये (तू)	**युध्य, च**	= युद्ध भी कर।	**असंशयम्**	= नि:सन्देह
सर्वेषु	= सब	**मयि**	= मुझमें		
कालेषु	= समयमें	**अर्पितमनो-**		**माम्**	= मुझे
माम्	= मेरा	**बुद्धिः**	= मन और बुद्धि	**एव**	= ही
अनुस्मर	= स्मरण कर (और)		अर्पित करनेवाला (तू)	**एष्यसि**	= प्राप्त होगा।

विशेष भाव—भगवान्ने सातवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें कहा—'**प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः**' तो इसपर अर्जुनने आठवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें प्रश्न किया—'**प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः**'। उसके उत्तरमें भगवान्ने कहा कि जो मनुष्य अन्तकालमें मेरा स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह मेरेको ही प्राप्त होता है (८। ५)। परन्तु यह नियम केवल मेरी प्राप्तिके विषयमें नहीं है। मनुष्य जिस-जिसका भी स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है—यह सबके लिये सामान्य नियम है (८। ५-६)। अन्तकाल किसी भी समय आ सकता है। ऐसा कोई वर्ष, महीना, दिन, घण्टा, मिनट, क्षण नहीं है, जिसमें अन्तकाल न आ सके। इसलिये मनुष्यको नित्य-निरन्तर, सब समय मेरा स्मरण करना चाहिये—'**तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर**'। जो नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उसके लिये मेरी प्राप्ति सुलभ है (७। १४); क्योंकि वह किसी भी समय शरीर छोड़ेगा तो मेरा स्मरण करते हुए ही छोड़ेगा और मेरेको ही प्राप्त होगा।

'जिस लाभकी प्राप्ति होनेपर उससे अधिक कोई दूसरा लाभ उसके माननेमें भी नहीं आता और जिसमें स्थित होनेपर वह बड़े भारी दु:खसे भी विचलित नहीं किया जा सकता।'
~~~

'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'—सब समयमें भगवान्‌का स्मरण करनेसे साधकके मन-बुद्धि भगवान्‌के अर्पित हो जाते हैं। मन-बुद्धि अपने नहीं हैं, इनके साथ अपना सम्बन्ध ही नहीं है—इस प्रकार मन-बुद्धिमें अपनापन छोड़नेसे मन-बुद्धि स्वतः भगवान्‌के अर्पित होंगे; क्योंकि ये भगवान्‌की ही अपरा प्रकृति हैं। यद्यपि परा और अपरा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌की हैं, तथापि परा प्रकृतिका सम्बन्ध अपराके साथ नहीं है, प्रत्युत केवल भगवान्‌के साथ है; क्योंकि वह भगवान्‌का अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (१५। ७)। इसलिये साधक 'मय्यर्पितमनोबुद्धि' तभी हो सकता है, जब वह अपराके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े, अपराको उसके मालिक भगवान्‌के अर्पित कर दे अर्थात् अपराको अपना और अपने लिये कभी न माने।

यहाँ 'मन' के अन्तर्गत चित्तको और 'बुद्धि'के अन्तर्गत अहंकारको भी समझ लेना चाहिये। मन-बुद्धि अर्पित होनेसे भक्त निर्मम और निरहंकार हो जाता है।

वास्तवमें भक्त स्वयं भगवान्‌के अर्पित होता है। स्वयं अर्पित होनेसे मन-बुद्धि आदि सर्वस्व अपने-आप अर्पित हो जाता है। सर्वस्व भगवान्‌के अर्पित होनेसे सर्वस्व नहीं रहता, प्रत्युत केवल भगवान् रह जाते हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ ८॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**चेतसा**	=चित्तसे	**अनुचिन्तयन्**	=चिन्तन करता हुआ (शरीर छोड़नेवाला मनुष्य)
अभ्यास-योगयुक्तेन	=अभ्यासयोगसे युक्त	**परमम्**	=परम	**याति**	=(उसीको) प्राप्त हो जाता है।
नान्यगामिना	=(और) अन्यका चिन्तन न करनेवाले	**दिव्यम्**	=दिव्य		
		पुरुषम्	=पुरुषका		

विशेष भाव—अर्जुनने प्रश्न किया था—**'प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः'** (८। २)। उस प्रश्नका उत्तर देकर अब आठवें, नवें और दसवें श्लोकमें अन्तकालमें स्मरण करनेवालोंके प्रकारका वर्णन करते हैं।

परमात्मामें बार-बार मन लगाना 'अभ्यास' है और किसी प्रकारकी कामना न रहना, चित्तमें निरन्तर समता रहना 'अभ्यासयोग' है। एक परमात्माके सिवाय अन्य किसी सत्ताकी धारणा न होना **'नान्यगामिना'** है। अन्यकी स्वतन्त्र सत्ता न रहनेसे, एकमात्र परमात्माका ही लक्ष्य रहनेसे साधक परमात्माको ही प्राप्त हो जाता है।

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ ९॥

यः	=जो		करनेवाला,	**धातारम्**	=धारण-पोषण करनेवाला,
कविम्	=सर्वज्ञ,	**अणोः**	=सूक्ष्मसे		
पुराणम्	=अनादि,	**अणीयांसम्**	=अत्यन्त सूक्ष्म,	**तमसः**	=अज्ञानसे
अनुशासितारम्	= सबपर शासन	**सर्वस्य**	=सबका	**परस्तात्**	=अत्यन्त परे,

आदित्यवर्णम्	= सूर्यकी तरह प्रकाशस्वरूप		अर्थात् ज्ञानस्वरूप		स्वरूपका
		अचिन्त्यरूपम्	=—ऐसे अचिन्त्य	**अनुस्मरेत्**	= चिन्तन करता है।

विशेष भाव—परमात्माको '**कविम्**' कहनेका तात्पर्य है कि उसके ज्ञानके बाहर कुछ भी नहीं है। '**पुराणम्**' कहनेका तात्पर्य है कि वह अनादि है, कालसे भी अतीत अर्थात् कालका भी प्रकाशक है। '**अनुशासितारम्**' कहनेका तात्पर्य है कि सब स्वाभाविक ही उसके शासनमें हैं। वह जीव और जगत्—दोनोंका ही शासक है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।

(श्वेताश्वतर० १। १०)

'प्रकृति तो विनाशशील है और इसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है। इन दोनों-(विनाशशील और अविनाशी-) को एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है।'

'**धातारम्**' कहनेका तात्पर्य है कि वह परमात्मा सबका पालन-पोषण करनेवाला है (गीता १५। १७)। '**आदित्यवर्णम्**' कहनेका तात्पर्य है कि जैसे सूर्यमें स्वतः स्वाभाविक नित्य प्रकाश रहता है, ऐसे ही परमात्मामें स्वतः स्वाभाविक नित्य ज्ञान, बोध रहता है। वह परमात्मा ज्ञानस्वरूप है और सबका प्रकाशक है (गीता १३। ३३)। '**तमसः परस्तात्**' कहनेका तात्पर्य है कि वह परमात्मा अज्ञानसे अथवा अपरासे अत्यन्त परे है—'**यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्**' (गीता १५। १८)।

~~~

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्-
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ १०॥

सः	= वह	**भ्रुवोः**	= भृकुटीके	**तम्**	= उस
भक्त्या, युक्तः	= भक्तियुक्त मनुष्य	**मध्ये**	= मध्यमें	**परम्**	= परम
प्रयाणकाले	= अन्त समयमें	**प्राणम्**	= प्राणोंको		
अचलेन	= अचल	**सम्यक्**	= अच्छी तरहसे	**दिव्यम्**	= दिव्य
मनसा	= मनसे			**पुरुषम्**	= पुरुषको
च	= और	**आवेश्य**	= प्रविष्ट करके	**एव**	= ही
योगबलेन	= योगबलके द्वारा		(शरीर छोड़नेपर)	**उपैति**	= प्राप्त होता है।

विशेष भाव—'**भक्त्या युक्तः**' का तात्पर्य है कि संसारकी आसक्ति मिट जानेसे उस साधकका एक परमात्मामें ही आकर्षण रहता है, अन्यमें आकर्षण नहीं रहता। संसारी मनुष्य तो अपरामें आकृष्ट रहते हैं, पर जो अपराको छोड़कर भगवान्‌में आकृष्ट हो जाता है, वह भक्त हो जाता है। संसारी मनुष्य शरीर-संसारमें आसक्त होनेसे 'विभक्त' अर्थात् भगवान्‌से अलग हो जाते हैं, पर भगवान्‌में लगा हुआ साधक विभक्त नहीं रहता, प्रत्युत 'भक्त' अर्थात् भगवान्‌से एक (अभिन्न) हो जाता है।

'**योगबलेन**' कहनेका तात्पर्य है कि पहले किये हुए योगाभ्यासके कारण अन्त समयमें होनेवाली अशक्त अवस्था उसको बाधा नहीं पहुँचा सकती, उसमें कोई विकार पैदा नहीं कर सकती। प्राणायाम आदिका बल 'योगबल' है।

~~~

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ ११॥

वेदविदः	=वेदवेत्ता लोग	**यत्**	=जिसको	**चरन्ति**	=पालन करते हैं,
यत्	=जिसको	**विशन्ति**	=प्राप्त करते हैं (और)	**तत्**	=वह
अक्षरम्	=अक्षर	**यत्**	=(साधक) जिसकी (प्राप्तिकी)	**पदम्**	=पद (मैं)
वदन्ति	=कहते हैं,			**ते**	=तेरे लिये
वीतरागाः	=वीतराग	**इच्छन्तः**	=इच्छा करते हुए	**सङ्ग्रहेण**	=संक्षेपसे
यतयः	=यति	**ब्रह्मचर्यम्**	=ब्रह्मचर्यका	**प्रवक्ष्ये**	=कहूँगा।

विशेष भाव—इस श्लोकमें गौणतासे चारों आश्रमोंका वर्णन ले सकते हैं; जैसे—'**यदक्षरं वेदविदो वदन्ति**' पदोंसे गृहस्थाश्रमका संकेत है; क्योंकि वेदोंका अध्ययन करना ब्राह्मणका खास काम है। '**विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः**' पदोंसे संन्यास और वानप्रस्थाश्रमका संकेत है। '**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति**' पदोंसे ब्रह्मचर्याश्रमका संकेत है।

मुक्ति सभी वर्णों, आश्रमोंमें हो सकती है। इसलिये भगवान्‌ने आश्रमोंका स्पष्टरूपसे वर्णन नहीं किया है और वर्णोंका स्पष्टरूपसे वर्णन भी कर्तव्य-पालनकी दृष्टिसे किया है। अर्जुन क्षत्रिय थे और वे अपने युद्धरूप कर्तव्यको छोड़ना चाहते थे। इसलिये भगवान्‌ने उनको अपने कर्तव्यमें लगानेके उद्देश्यसे वर्णधर्मका वर्णन किया। युद्ध करना वर्णधर्म है, आश्रमधर्म नहीं।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ १३॥

सर्वद्वाराणि	=(इन्द्रियोंके) सम्पूर्ण द्वारोंको	**आधाय**	=स्थापित करके		उच्चारण (और)
		योगधारणाम्	= योगधारणामें	**माम्**	=मेरा
संयम्य	=रोककर	**आस्थितः**	=सम्यक् प्रकारसे स्थित हुआ	**अनुस्मरन्**	=स्मरण करता हुआ
मनः	=मनका			**देहम्**	=शरीरको
हृदि	=हृदयमें	**यः**	=जो साधक	**त्यजन्**	=छोड़कर
निरुध्य	=निरोध करके	**ओम्**	='ॐ'	**प्रयाति**	=जाता है,
च	=और	**इति**	=इस	**सः**	=वह
आत्मनः	=अपने	**एकाक्षरम्**	=एक अक्षर	**पराम्**	=परम
प्राणम्	=प्राणोंको	**ब्रह्म**	=ब्रह्मका	**गतिम्**	=गतिको
मूर्ध्नि	=मस्तकमें	**व्याहरन्**	=(मानसिक)	**याति**	=प्राप्त होता है।

विशेष भाव—इन श्लोकोंमें योगाभ्यास करनेवाले अद्वैतवादीका वर्णन है। **'व्याहरन्'** पदसे मानसिक उच्चारण समझना चाहिये; क्योंकि मनका हृदयमें निरोध करनेपर तथा प्राणोंको मस्तकमें स्थापित करनेपर वाचिक उच्चारण होना असम्भव है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ १४॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**सततम्**	=निरन्तर	**योगिनः**	=योगीके लिये
अनन्यचेताः	=अनन्य चित्तवाला	**स्मरति**	=स्मरण करता है,	**अहम्**	=मैं
यः	= जो मनुष्य	**तस्य**	=उस	**सुलभः**	=सुलभ हूँ अर्थात् उसको सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ।
माम्	=मेरा	**नित्ययुक्तस्य**	=नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए		
नित्यशः	=नित्य-				

विशेष भाव—**'अनन्यचेताः'**—भक्तकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय अन्यकी सत्ता न होनेसे उसका मन अन्य जगह कैसे जायगा? क्यों जायगा? कहाँ जायगा? इसलिये वह स्वतः अनन्यचित्तवाला हो जाता है।

'सततं यो मां स्मरति नित्यशः'—एक 'करना' होता है और एक 'होना' होता है। जो करते हैं, वह क्रिया है और जो अपने-आप होता है, वह स्मरण है। जैसे, गीताके अन्तमें अर्जुनने कहा—**'स्मृतिर्लब्धा'** (१८। ७३) तो यह स्मृति क्रिया नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌के साथ अपने नित्य सम्बन्धकी स्वतः होनेवाली स्मृति है। भगवान्‌के स्मरणमें खास हेतु उनमें अपनापन है। भगवान् ही मेरे हैं और मेरे लिये हैं—इस प्रकार भगवान्‌में अपनापन होनेसे स्वतः भगवान्‌में प्रेम होता है और जिसमें प्रेम होता है, उसका स्मरण अपने-आप और नित्य-निरन्तर होता है। इसलिये भगवान्‌ने सातवें अध्यायके आरम्भमें **'मय्यासक्तमनाः'** पदसे अपनेमें आसक्ति अर्थात् प्रेम होनेकी बात कही है। तात्पर्य है कि केवल भगवान्‌को ही अपना और अपने लिये माननेसे साधककी भगवान्‌में प्रियता हो जाती है। भगवान्‌में प्रियता होनेके बाद फिर भगवान्‌का स्मरण स्वतः होता है।

'नित्ययुक्तस्य'—नित्य-निरन्तर भगवान्‌के साथ जुड़ा हुआ होनेसे भक्तको 'नित्ययुक्त' कहा गया है। सातवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें **'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः'** पदोंसे भी यही बात कही गयी है। **'नित्ययुक्तस्य'** पदसे श्लोकके पूर्वार्धमें आयी सभी बातोंका समाहार हो जाता है।

'तस्याहं सुलभः पार्थ'—भगवान्‌ने महात्माको तो दुर्लभ बताया है—**'स महात्मा सुदुर्लभः'** (गीता ७। १९), पर यहाँ अपनेको सुलभ बताया है! इसका तात्पर्य है कि संसारमें भगवान् दुर्लभ नहीं हैं, प्रत्युत उनके तत्त्वको जानकर उनके शरण होनेवाले भक्त दुर्लभ हैं। कारण कि भगवान्‌को ढूँढ़े तो वे सब जगह मिल जायँगे, पर भगवान्‌का प्यारा भक्त कहीं-कहीं ही मिलेगा—

हरि दुरलभ नहिं जगतमें, हरिजन दुरलभ होय।
हरि हेर्‌याँ सब जग मिलै, हरिजन कहिं एक होय॥

भगवान् कृपा करके जो मनुष्यशरीर देते हैं, उस शरीरसे जीव अनेक योनियोंमें तथा नरकोंमें भी जा सकता है। परन्तु भक्त कृपा करके भगवान्‌की ही प्राप्ति कराता है—

हरि से तू जनि हेत कर, कर हरिजन से हेत।
हरि रीझै जग देत हैं, हरिजन हरि ही देत॥

वास्तवमें जो नित्यप्राप्त है, उसमें सुलभता-दुर्लभता कहना बनता ही नहीं। परन्तु लोगोंने उसको दुर्लभ (कठिन) मान रखा है, इस वृत्तिको हटानेके लिये भगवान्‌ने अपनेको सुलभ बताया है। जिसकी खुदकी सत्ता है ही नहीं, उस असत् (शरीर-संसार) को सत्ता और महत्ता देनेसे तथा उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही नित्यप्राप्त परमात्मा

दुर्लभ हो रहे हैं। असत्‌को सत्ता और महत्ता न दें तो परमात्माकी प्राप्ति स्वतःसिद्ध है। असत् है और वह अपना तथा अपने लिये है—ऐसा मानना ही असत्‌को सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ना है।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ १५॥

महात्मानः	= महात्मालोग	**अशाश्वतम्**	= अशाश्वत अर्थात् निरन्तर बदलनेवाले	**परमाम्**	= परम
माम्	= मुझे	**पुनर्जन्म**	= पुनर्जन्मको	**संसिद्धिम्**	= सिद्धिको
उपेत्य	= प्राप्त करके	**न, आप्नुवन्ति**	= प्राप्त नहीं होते; (क्योंकि वे)	**गताः**	= प्राप्त हो गये हैं अर्थात् उनको परम प्रेमकी प्राप्ति हो गयी है।
दुःखालयम्	= दुःखालय अर्थात् दुःखोंके घर (और)				

विशेष भाव—गीताके सातवें अध्यायमें तो संसारको परमात्माका स्वरूप कहा गया है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९), पर यहाँ उसको दुःखालय अर्थात् दुःखोंका घर कहा गया है—'**दुःखालयम्**'। इसका तात्पर्य है कि जो मनुष्य सांसारिक वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सुख लेता है, उसके लिये तो संसार भयंकर दुःख देनेवाला है, पर जो वस्तु और क्रियासे व्यक्तियोंकी सेवा करता है, उसके लिये संसार परमात्माका स्वरूप है। सुखकी आशा, कामना और भोग महान् दुःखोंके कारण हैं। सुख भोगनेवाला दुःखसे कभी बच सकता ही नहीं—यह अकाट्य नियम है। इसलिये वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सुख लेना ही नहीं है। जिस क्षण सुखबुद्धिका त्याग है, उसी क्षण परमात्माकी प्राप्ति है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)।

जीव उस समग्र परमात्माका अंश है, जिसके रोम-रोममें करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं! पर जीव फँस गया अपरा प्रकृतिके तुच्छ-से-तुच्छ अंश एक शरीरमें! इसलिये जहाँ कोरा आनन्द-ही-आनन्द है, वहाँ जीव कोरा दुःख-ही-दुःख पा रहा है! जैसे—गायके थनोंमें जहाँ केवल दूध-ही-दूध है, वहाँ रहकर चींचड़ केवल खून-ही-खून पीता है! गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

आनँद-सिंधु-मध्य तव बासा । बिनु जाने कस मरसि पियासा॥

(विनयपत्रिका १३६। २)

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ १६॥

अर्जुन	= हे अर्जुन!		पुनः लौटकर संसारमें आना पड़ता है;	**माम्**	= मुझे
आब्रह्मभुवनात्	= ब्रह्मलोकतक	**तु**	= परन्तु	**उपेत्य**	= प्राप्त होनेपर
लोकाः	= सभी लोक	**कौन्तेय**	= हे कौन्तेय!	**पुनर्जन्म**	= पुनर्जन्म
पुनरावर्तिनः	= पुनरावर्तीवाले हैं अर्थात् वहाँ जानेपर			**न**	= नहीं
				विद्यते	= होता।

विशेष भाव—यहाँ कोई शंका कर सकता है कि ब्रह्मलोकतक सभी लोक भगवान्‌के ही स्वरूप हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**', फिर उन लोकोंमें जानेवालोंका संसारमें पुनर्जन्म क्यों होता है? इसका समाधान है कि उन लोकोंमें जानेवाले मनुष्य उन लोकोंको भगवान्‌का स्वरूप नहीं समझते, प्रत्युत भोग-सामग्री समझते हैं (गीता ९। २३)। वे सुखभोगके उद्देश्यसे ही ब्रह्मलोक आदिमें जाते हैं। इसलिये उनको कर्मफलके रूपमें ब्रह्मलोकतकके लोकोंकी प्राप्ति होती है और उनका पुनर्जन्म मिटता नहीं।

पुनर्जन्म सुखासक्तिके कारण ही होता है। इसलिये यहाँ '**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः**' कहनेका तात्पर्य है कि सांसारिक सुखोंकी आखिरी हद जो 'ब्रह्मलोक' है, वहाँ जानेपर भी जीवको लौटना ही पड़ता है। अनन्त ब्रह्माण्डोंका सुख मिलकर भी जीवको सुखी नहीं कर सकता, उसकी आफत, जन्म-मरण नहीं मिटा सकता। अतः संसारसे सुखकी आशा करनेवाला केवल धोखेमें रहता है।

ब्रह्मलोकमें दो प्रकारके मनुष्य जाते हैं—एक तो सुखभोगके लिये ब्रह्मलोक जाते हैं और फिर लौटकर संसारमें आते हैं और दूसरे क्रममुक्तिवाले ब्रह्मलोक जाते हैं और ब्रह्माजीके साथ मुक्त हो जाते हैं (गीता ८। २४)। वे (क्रममुक्तिवाले) लौटकर संसारमें नहीं आते तो यह उनके उद्देश्यकी महिमा है, ब्रह्मलोकको महिमा नहीं है। ब्रह्मलोक तो पुनरावर्ती ही है; क्योंकि वहाँ कोई भी सदा नहीं रह सकता, न भोगी सदा रहता है, न योगी (क्रममुक्तिवाला) सदा रहता है। ब्रह्मलोकतक सब कर्मफल है। जब कर्ममात्र आदि-अन्तवाला (नाशवान्) होता है तो फिर उसका फल अविनाशी कैसे हो सकता है?

'**मामुपेत्य**' में '**माम्**' पद समग्र परमात्माका वाचक है, जो परा और अपरा—दोनोंका मालिक है। उसको प्राप्त होनेके बाद फिर दुःखालय संसारमें जन्म नहीं होता। हाँ, उनको प्राप्त हुए मनुष्य उनकी इच्छासे कारक महापुरुषके रूपमें अथवा भगवान्‌के अवतारके समय संसारमें आ सकते हैं। परन्तु उनका वह जन्म कर्मोंके अधीन नहीं होता, प्रत्युत भगवान्‌की इच्छासे होता है।

सहस्त्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्त्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ १७॥

यत्	=जो मनुष्य	**अहः**	=एक दिनको (और)	**विदुः**	=जानते हैं,
ब्रह्मणः	=ब्रह्माके	**युग-**		**ते**	=वे
सहस्त्रयुग-		**सहस्त्रान्ताम्**	=एक हजार	**जनाः**	=मनुष्य
पर्यन्तम्	=एक हजार		चतुर्युगीवाली	**अहोरात्रविदः**	=ब्रह्माके दिन और
	चतुर्युगीवाले	**रात्रिम्**	=एक रात्रिको		रातको जाननेवाले हैं।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके॥ १८॥

अहरागमे	=ब्रह्माके दिनके	**व्यक्तयः**	=शरीर	**अव्यक्तसञ्ज्ञके, एव**	=अव्यक्त नामवाले-
	आरम्भकालमें	**प्रभवन्ति**	=पैदा होते हैं (और)		(ब्रह्माके
अव्यक्तात्	=अव्यक्त-(ब्रह्माके	**रात्र्यागमे**	=ब्रह्माकी रातके		सूक्ष्मशरीर-) में ही
	सूक्ष्मशरीर-) से		आरम्भकालमें	**प्रलीयन्ते**	=(सम्पूर्ण शरीर)
सर्वाः	=सम्पूर्ण	**तत्र**	=उस		लीन हो जाते हैं।

विशेष भाव—सोलहवें श्लोकमें भगवान्‌ने बताया कि ब्रह्मलोकतक सभी लोक पुनरावर्ती हैं। वे पुनरावर्ती क्यों हैं? इसके उत्तरमें भगवान् सत्रहवें-अठारहवें श्लोकोंमें बताते हैं कि ऊँचे-से-ऊँचा ब्रह्मलोक भी कालकी अवधिमें है। उस अवधिका विवेचन करते हुए भगवान् बताते हैं कि ब्रह्मलोककी अवधि कितनी ही बड़ी क्यों न हो, है वह कालके अन्तर्गत ही। परन्तु भगवान् कालकी अवधिमें नहीं हैं।

जैसे हम रातको सोते हैं तो संसारको भूल जाते हैं और प्रातः जागते हैं तो संसार पुनः याद आ जाता है, ऐसे ही ब्रह्माजीके रातमें सम्पूर्ण सृष्टि लीन हो जाती है और दिनमें पुनः उत्पन्न हो जाती है। यह रात और दिनकी आखिरी हद है।

ब्रह्माजीके दिन और रात सूर्यसे नहीं होते, प्रत्युत प्रकृतिसे होते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ १९॥

पार्थ	=हे पार्थ!	**अवशः**	=प्रकृतिके परवश हुआ		(और)
सः, एव	=वही	**अहरागमे**	=ब्रह्माके दिनके समय	**रात्र्यागमे**	=ब्रह्माकी रात्रिके समय
अयम्	=यह	**प्रभवति**	=उत्पन्न होता है	**प्रलीयते**	=लीन होता है।
भूतग्रामः	=प्राणिसमुदाय				
भूत्वा, भूत्वा	=उत्पन्न हो-होकर				

विशेष भाव—एक विभाग बदलनेवाले संसारका है और एक विभाग न बदलनेवाली चिन्मय सत्ताका है। जो अनादिकालसे जन्म-मरणके प्रवाहमें पड़ा हुआ है, वही यह जीव-समुदाय बार-बार उत्पन्न और लीन होता है। ब्रह्माके दिन और रातके बीचमें भी जीव निरन्तर जन्म लेता और मरता रहता है। तात्पर्य है कि जो बार-बार उत्पन्न और लीन होता है, वह संसार है और जो वही रहता है (जो पहले सर्गावस्थामें था), वह जीवका असली स्वरूप अर्थात् चिन्मय सत्ता है, जो परमात्माका साक्षात् अंश है। ब्रह्माजीके कितने ही रात-दिन बीत जायँ, पर जीव स्वयं वही-का-वही रहता है।

चिन्मय सत्ता (चितिशक्ति) अर्थात् स्वयंमें स्वीकार अथवा अस्वीकार करनेकी सामर्थ्य है। इस सामर्थ्यका दुरुपयोग करनेसे अर्थात् जड़ताको स्वीकार करनेसे ही वह जन्मता-मरता है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। यदि वह इस सामर्थ्यका दुरुपयोग न करे तो उसका जन्म-मरण हो ही नहीं सकता। अत: जीवका खास पुरुषार्थ है—जड़ताको स्वीकार न करना अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थित होना अथवा अपने अंशी भगवान्‌के शरण होना। जड़तामें अर्थात् देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अवस्था, परिस्थितिमें परिवर्तन होता है, अपनेमें (अपने होनेपनमें) कभी परिवर्तन नहीं होता—यह मनुष्यमात्रका अनुभव है। परन्तु ऐसा अनुभव होते हुए भी मनुष्य सुखासक्तिके कारण जड़तासे बँधा रहता है, जिससे उसको अपने सहज स्वरूपका अनुभव नहीं होता, प्रत्युत वह पशु-पक्षी आदिकी तरह अपने स्वरूपको भूला रहता है।

'अवशः'—अपरा प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे जीव परवश, पराधीन हो जाता है—**'भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्'** (गीता ९। ८)*। अत: प्रकृतिके साथ माना हुआ सम्बन्ध छूटनेपर यह स्वाधीन अर्थात् मुक्त हो जाता है।

हमारी सत्ता अपरा प्रकृतिके अर्थात् वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके अधीन नहीं है। प्रत्येक वस्तुकी उत्पत्ति और विनाश होता है, प्रत्येक व्यक्तिका जन्म (संयोग) और मरण (वियोग) होता है तथा प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। परन्तु इन तीनों-(वस्तु, व्यक्ति और क्रिया-) को जाननेवाली हमारी चिन्मय सत्ता- (होनेपन-) का कभी उत्पत्ति-विनाश, जन्म-मरण (संयोग-वियोग) और आरम्भ-अन्त नहीं होता। यह सत्ता नित्य-निरन्तर स्वत: ज्यों-की-त्यों रहती है—**'भूतग्रामः स एवायम्'**। इस सत्ताका कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। इस सत्तामें स्वत:-स्वाभाविक स्थितिके अनुभवका नाम ही मुक्ति (स्वाधीनता) है।

मनुष्यको यह वहम रहता है कि अमुक वस्तुकी प्राप्ति होनेपर, अमुक व्यक्तिके मिलनेपर तथा अमुक क्रियाको करनेपर मैं स्वाधीन (मुक्त) हो जाऊँगा। परन्तु ऐसी कोई वस्तु, व्यक्ति और क्रिया है ही नहीं, जिससे मनुष्य स्वाधीन हो जाय। प्रकृतिजन्य वस्तु, व्यक्ति और क्रिया तो मनुष्यको पराधीन बनानेवाली हैं। उनसे सर्वथा असंग

* यहाँ (८।१९ में) और नवें अध्यायके आठवें श्लोकमें—दोनों जगह 'भूतग्राम' और 'अवश' शब्द आये हैं। फर्क इतना है कि यहाँ सर्ग तथा प्रलयका वर्णन है, वहाँ (९।८ में) महासर्ग तथा महाप्रलयका वर्णन है।

होनेपर ही मनुष्य स्वाधीन हो सकता है। अतः साधकको चाहिये कि वह वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके बिना अपनेको अकेला अनुभव करनेका स्वभाव बनाये, उस अनुभवको महत्त्व दे, उसमें अधिक-से-अधिक स्थित रहे। यह मनुष्यमात्रका अनुभव है कि सुषुप्तिके समय वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके बिना भी हम स्वतः रहते हैं; परन्तु हमारे बिना वस्तु, व्यक्ति और क्रिया नहीं रहती। जब जाग्रत्में भी हम इनके बिना रहनेका स्वभाव बना लेंगे, तब हम स्वाधीन (मुक्त) हो जायँगे। प्रकृतिजन्य वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके सम्बन्धकी मान्यता ही हमें स्वाधीन नहीं होने देती और हमारे न चाहते हुए भी हमें पराधीन बना देती है।

परमात्मामें अनन्त शक्तियाँ हैं, जो चित्स्वरूप हैं। माया-(प्रकृति-) में भी अनन्त शक्तियाँ हैं, पर वे जड़स्वरूप तथा परिवर्तनशील हैं—**'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'** (९। १०)। सबसे विलक्षण शक्ति भगवत्प्रेममें है। परन्तु मुक्ति-(स्वाधीनता-) में सन्तोष करनेसे वह प्रेम प्रकट नहीं होता। जड़ताके सम्बन्धसे ही परवशता होती है और मुक्त होनेपर वह परवशता सर्वथा मिट जाती है और जीव स्वाधीन हो जाता है। परन्तु प्रेम इस स्वाधीनतासे भी विशेष विलक्षण है। स्वाधीनता-(मुक्ति-) में अखण्ड आनन्द है, पर प्रेममें अनन्त आनन्द है।

ज्ञानयोगी तो स्वाधीन होता है और भक्त प्रेमी होता है। भक्तियोगमें भक्त भगवान्के पराधीन नहीं होता; क्योंकि भगवान् परकीय नहीं हैं, प्रत्युत स्वकीय (अपने) हैं। स्वकीयकी अधीनतामें विशेष स्वाधीनता होती है।

भगवान् तो स्वाधीन-से-स्वाधीन हैं। जीव ही जड़ताके पराधीन हो जाता है। उस पराधीनताको मिटानेसे वह स्वाधीन हो जाता है। परन्तु भगवान्के शरण होनेसे वह स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीन अर्थात् परम स्वाधीन हो जाता है। भगवान्की अधीनता परम स्वाधीनता है, जिसमें भगवान् भी भक्तके अधीन हो जाते हैं—**'अहं भक्त-पराधीनः'** (श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ २०॥

तु	= परन्तु	**सनातनः**	= अनादि	**सः**	= वह
तस्मात्	= उस	**परः**	= अत्यन्त श्रेष्ठ	**सर्वेषु**	= सम्पूर्ण
अव्यक्तात्	= अव्यक्त- (ब्रह्माके सूक्ष्मशरीर-) से	**भावः**	= भावरूप	**भूतेषु**	= प्राणियोंके
		यः	= जो	**नश्यत्सु**	= नष्ट होनेपर भी
अन्यः	= अन्य (विलक्षण)	**अव्यक्तः**	= अव्यक्त (ईश्वर) है,	**न, विनश्यति**	= नष्ट नहीं होता।

विशेष भाव—एक अपरिवर्तनशील (स्थायी) तत्त्व 'परा' है और एक परिवर्तनशील (अस्थायी) तत्त्व 'अपरा' है। परामें कभी परिवर्तन होता ही नहीं और अपरामें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अपरा कभी परिवर्तनके बिना रहती ही नहीं, रह सकती ही नहीं। सर्ग और प्रलयमें तो परिवर्तन होता रहता है, महासर्ग और महाप्रलयमें भी परिवर्तन होता रहता है।

अगर परा और अपरा—दोनों ही तत्त्व अपरिवर्तनशील हों तो जन्म-मरण मिट जाय अथवा दोनों ही परिवर्तनशील हों तो जन्म-मरण मिट जाय! परन्तु स्वयं अपरिवर्तनशील होते हुए भी जीव- (परा-) ने परिवर्तनशील अपरासे सम्बन्ध जोड़ लिया, इसीसे वह जन्म-मरणके चक्रमें पड़ गया। जगत्से अपना सम्बन्ध जोड़कर वह भी जगत् हो गया (गीता ७। १३)। जैसे कोई चलती हुई गाड़ीमें बैठकर चल पड़े, ऐसे ही परिवर्तनशील संसारको पकड़कर जीव भी परिवर्तनशील बन गया—अनेक योनियोंमें भटकने लग गया!

परमात्माको 'पर' अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ कहनेका तात्पर्य है कि ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरसे भी श्रेष्ठ मूल प्रकृति (कारणशरीर) है और मूल प्रकृतिसे भी श्रेष्ठ परमात्मा हैं।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ २१॥

तम्	=उसीको	**परमाम्**	=परम	**न, निवर्तन्ते**	=फिर लौटकर (संसारमें) नहीं आते,
अव्यक्तः	=अव्यक्त (और)	**गतिम्**	=गति		
अक्षरः	=अक्षर—	**आहुः**	=कहा गया है (और)	**तत्**	=वह
इति	=ऐसा	**यम्**	=जिसको	**मम**	=मेरा
उक्तः	=कहा गया है (तथा उसीको)	**प्राप्य**	=प्राप्त होनेपर (जीव)	**परमम्**	=परम
				धाम	=धाम है।

विशेष भाव—अव्यक्त, अक्षर आदि नामोंकी पहुँच उस प्रापणीय तत्त्वतक नहीं है। कारण कि वह अव्यक्त-व्यक्त, अक्षर-क्षर, गति-स्थिति दोनोंसे रहित निरपेक्ष तत्त्व है। उसको प्राप्त होनेपर जीव लौटकर नहीं आता; क्योंकि उसकी अवधि नहीं है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ २२॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन अर्जुन!	**येन**	=जिससे	**परः**	=परम
		इदम्	=यह	**पुरुषः**	=पुरुष परमात्मा
भूतानि	=सम्पूर्ण प्राणी	**सर्वम्**	=सम्पूर्ण संसार	**तु**	=तो
यस्य	=जिसके	**ततम्**	=व्याप्त है,	**अनन्यया, भक्त्या**	= अनन्यभक्तिसे
अन्तःस्थानि	=अन्तर्गत हैं (और)	**सः**	=वह	**लभ्यः**	=प्राप्त होनेयोग्य है।

विशेष भाव—भक्तिको 'अनन्य' कहनेका तात्पर्य है कि भक्तिके साथ थोड़ा भी जड़ताका अंश, अहम्का संस्कार, अपने मतका संस्कार न रहे अर्थात् किसी भी तरफ किंचिन्मात्र भी खिंचाव न रहे। सब कुछ भगवान् ही हैं—ऐसा अनुभव करना अनन्यभक्ति है।

सुखकी वासना तो एक ही है, पर सुख-सामग्रीकी तारतम्यता अनेक लोकोंमें है। ब्रह्मलोकतकका सुख भी आकृष्ट न करे, यहाँतक कि अपनी स्वाधीनता- (मुक्ति-) का सुख भी सन्तुष्ट न कर सके, तब भक्ति प्राप्त होती है।

सातवें अध्यायमें भगवान्ने कहा था—'**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति**' (७। ७), उसी बातको यहाँ '**यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्**' पदोंसे कहा है। इसीको आगे नवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें विस्तारसे कहेंगे। इन सबका तात्पर्य है कि एक भगवान्के सिवाय कुछ भी नहीं है अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ २३॥

तु	=परन्तु		मार्गमें	**यान्ति**	=प्राप्त होते हैं अर्थात् पीछे लौटकर नहीं आते
भरतर्षभ	=हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**प्रयाता**	=शरीर छोड़कर गये हुए		
यत्र	=जिस	**योगिनः**	=योगी	**च, एव**	=और (जिस मार्गमें गये हुए)
काले	=काल अर्थात्	**अनावृत्तिम्**	=अनावृत्तिको		

आवृत्तिम्	=आवृत्तिको प्राप्त होते हैं अर्थात् पीछे लौटकर आते हैं,	**तम्**	=उस		दोनों मार्गोंको
		कालम्	=कालको अर्थात्	**वक्ष्यामि**	=मैं कहूँगा।

विशेष भाव—जो परिवर्तनशील प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखता है, उसको पीछे लौटकर आना पड़ता है। परन्तु जो परिवर्तनशील प्रकृतिके साथ सम्बन्ध नहीं रखता, उसको पीछे लौटकर नहीं आना पड़ता।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ २४॥

जिस मार्गमें—

ज्योतिः	=प्रकाशस्वरूप	**षण्मासाः**	=(और) छः महीनोंवाले	**जनाः**	=पुरुष (पहले ब्रह्मलोकको प्राप्त होकर पीछे ब्रह्माके साथ)
अग्निः	=अग्निका अधिपति देवता,	**उत्तरायणम्**	= उत्तरायणका अधिपति देवता है,		
अहः	=दिनका अधिपति देवता,	**प्रयाताः**	=शरीर छोड़कर	**ब्रह्म**	=ब्रह्मको
शुक्लः	=शुक्लपक्षका अधिपति देवता,	**तत्र**	=उस मार्गसे गये हुए	**गच्छन्ति**	=प्राप्त हो जाते हैं।
		ब्रह्मविदः	=ब्रह्मवेत्ता		

विशेष भाव—पहले साधनावस्थामें जिनके भीतर ब्रह्मलोककी वासना अथवा अपने मतका आग्रह रहा है, वे क्रममुक्तिसे पहले ब्रह्मलोकमें जाते हैं और फिर महाप्रलय आनेपर ब्रह्माजीके साथ मुक्त हो जाते हैं—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥

(कूर्मपुराण, पूर्व० ११। २८४)

'ब्रह्माकी आयु पूर्ण होनेपर जब महाप्रलयकाल उपस्थित होता है, तब वे सम्पूर्ण शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुष ब्रह्माके साथ ही परमपदमें प्रविष्ट हो जाते हैं।'

क्रममुक्तिमें ब्रह्मलोक मार्गमें आनेवाले एक स्टेशनकी तरह है, जहाँ सुखकी वासनावाले पुरुष उतरते हैं। परन्तु जिनमें सुखकी वासना नहीं है, वे वहाँ नहीं उतरते; जैसे—हमारा कोई प्रयोजन न हो तो मार्गमें स्टेशन आये या जंगल, क्या फर्क पड़ता है!

उपनिषदोंमें शुक्लमार्गके क्रमका अलग-अलग ढंगसे वर्णन आता है; जैसे—

छान्दोग्योपनिषद्के अनुसार—अर्चिका देवता, दिनका देवता, शुक्लपक्षका देवता, उत्तरायणका देवता, संवत्सर, आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत् और फिर अमानव पुरुषके द्वारा ब्रह्मलोकमें (ब्रह्माके पास) ले जाना (४। १५। ५; ५। १०। १-२)।

बृहदारण्यकोपनिषद्के अनुसार—ज्योतिका देवता, दिनका देवता, शुक्लपक्षका देवता, उत्तरायणका देवता, देवलोक, आदित्य, विद्युत् (वैद्युत देव) और फिर मानस पुरुषके द्वारा ब्रह्मलोककी प्राप्ति (६। २। १५)।

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्के अनुसार—अग्निलोक, वायुलोक, सूर्यलोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक और ब्रह्मलोक (१। ३)।

ब्रह्मसूत्र (४। ३। २-३) में भी इसपर विचार किया गया है।

शुक्लमार्गको उपनिषदोंमें देवयान, अर्चिमार्ग, उत्तरमार्ग, देवपथ और ब्रह्मपथ नामसे भी कहा गया है।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ २५॥

जिस मार्गमें—

धूमः	= धूमका अधिपति देवता,	**षण्मासाः**	= छः महीनोंवाले	**चान्द्रमसम्**	= चन्द्रमाकी
रात्रिः	= रात्रिका अधिपति देवता,	**दक्षिणायनम्**	= दक्षिणायनका अधिपति देवता है,	**ज्योतिः**	= ज्योतिको
कृष्णः	= कृष्णपक्षका अधिपति देवता	**तत्र**	= (शरीर छोड़कर) उस मार्गसे गया हुआ	**प्राप्य**	= प्राप्त होकर
तथा	= और	**योगी**	= योगी (सकाम मनुष्य)	**निवर्तते**	= लौट आता है अर्थात् जन्म-मरणको प्राप्त होता है।

विशेष भाव—निष्कामभाव प्रकाश है और सकामभाव अँधेरा है।

उपनिषदोंमें कृष्णमार्गके क्रमका अलग-अलग प्रकारसे वर्णन आता है; जैसे—

छान्दोग्योपनिषद्के अनुसार—धूमका देवता, रात्रिका देवता, कृष्णपक्षका देवता, दक्षिणायनका देवता, पितृलोक, आकाश, चन्द्रमा (सोम) और फिर पुनरागमनको प्राप्त होना (५। १०। ३-४)।

बृहदारण्यकोपनिषद्के अनुसार—धूमका देवता, रात्रिका देवता, कृष्णपक्षका देवता, दक्षिणायनका देवता, पितृलोक, चन्द्रमा और फिर पुनरागमनकी प्राप्ति (६। २। १६)।

कृष्णमार्गको उपनिषदोंमें पितृयान, धूममार्ग और दक्षिणमार्ग नामसे भी कहा गया है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ २६॥

हि	= क्योंकि	**जगतः**	= जगत्-(प्राणिमात्र-) के साथ (सम्बन्ध रखनेवाली)	**अनावृत्तिम्, याति**	= जानेवालेको लौटना नहीं पड़ता (और)
शुक्लकृष्णे	= शुक्ल और कृष्ण—				
एते	= ये दोनों			**अन्यया**	= दूसरी गतिमें जानेवालेको
गती	= गतियाँ	**मते**	= मानी गयी हैं।		
शाश्वते	= अनादिकालसे	**एकया**	= (इनमेंसे) एक गतिमें	**पुनः, आवर्तते**	= पुनः लौटना पड़ता है।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ २७॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**योगी**	= योगी	**कालेषु**	= समयमें
एते	= इन दोनों	**न, मुह्यति**	= मोहित नहीं होता।		
सृती	= मार्गोंको	**तस्मात्**	= अतः	**योगयुक्तः**	= योगयुक्त (समतामें स्थित)
जानन्	= जाननेवाला	**अर्जुन**	= हे अर्जुन! (तू)		
कश्चन	= कोई भी	**सर्वेषु**	= सब	**भव**	= हो जा।

विशेष भाव—कामनावाला मनुष्य ही मोहित होता है अर्थात् जन्म-मरणमें जाता है। शुक्ल और कृष्णमार्गको जाननेवाला मनुष्य निष्काम हो जाता है, इसलिये वह जन्म-मरणमें नहीं जाता अर्थात् कृष्णमार्गको प्राप्त नहीं होता।

इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा—'**तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च**' और यहाँ कहते हैं—'**तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन**'। तात्पर्य है कि भगवत्स्मरण करना अर्थात् भगवान्‌में लगना भी 'योग' है और समतामें स्थित होना अर्थात् संसारसे हटना भी 'योग' है। दोनोंका परिणाम एक ही है।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ २८॥

योगी	= योगी (भक्त)	**तपःसु**	= तपोंमें	**सर्वम्**	= सभी पुण्यफलोंका
इदम्	= इसको (इस अध्यायमें वर्णित विषयको)	**च, एव**	= तथा	**अत्येति**	= अतिक्रमण कर जाता है
		दानेषु	= दानमें		
		यत्	= जो-जो	**च**	= और
विदित्वा	= जानकर	**पुण्यफलम्**	= पुण्यफल	**आद्यम्, स्थानम्**	= आदिस्थान
वेदेषु	= वेदोंमें,	**प्रदिष्टम्**	= कहे गये हैं,	**परम्**	= परमात्माको
यज्ञेषु	= यज्ञोंमें,	**तत्**	= उन	**उपैति**	= प्राप्त हो जाता है।

विशेष भाव—पिछले श्लोकमें शुक्ल तथा कृष्णमार्गको जाननेकी महिमा कहकर अब भगवान् इस श्लोकमें आठवें अध्यायमें वर्णित विषयको अर्थात् समग्रको जाननेकी महिमा बताते हैं कि इसको जाननेवाला सम्पूर्ण सकाम पुण्यफलोंका अतिक्रमण करके परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

परा और अपरा—दोनों जिसकी शक्तियाँ हैं, उस परमात्माको प्राप्त होना ही '**परं स्थानमुपैति चाद्यम्**' पदोंका तात्पर्य है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥